मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा अधिकार विधेयक 2008

अनिल सद्गोपाल

आरंभिक शिक्षा को सभी बच्चों के लिए मुफ्त एवं अनिवार्य बनाने की मांग आजादी के पहले से उठती रही है। स्वतंत्र भारत की सरकारें अभी तक इस मांग को पूरा नहीं कर पाई हैं। इसके लिए वर्ष 2005 में और फिर 2008 में विधेयक प्रारूप तैयार किए गए लेकिन इसके बावजूद यह अधिकार बच्चों को अभी तक नहीं मिल पाया है।

प्रो. अनिल सद्गोपाल इस विधेयक की कमियों का खुलासा करते हुए बताते हैं कि दरअसल जो प्रावधान मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा अधिकार विधेयक में किए गए हैं उनसे यह मौलिक अधिकार की श्रेणी में आता ही नहीं है। वे कहते हैं कि इस विधेयक की जड़ें नव-उदारवादी अर्थव्यवस्था में हैं और यह मौलिक अधिकार के नाम पर एक तरह का भुलावा है।

लेखक परिचय : जाने-माने शिक्षाविद्, राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा : 2005 की संचालन समिति, केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड एवं राष्ट्रीय स्तर पर बनी विभिन्न शिक्षा समितियों के सदस्य रह चुके हैं।

प्रकाशन : शिक्षा में बदलाव का सवाल, ग्रन्थशिल्पी प्रकाशन प्रा.लि., दिल्ली। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख प्रकाशित।

सम्पर्क : ई-8/29, सहकार नगर, भोपाल-462039

सवाल : क्या कारण है कि आजादी के बाद साठ साल बीतने के बावजूद आज तक देश के सभी बच्चों को शिक्षा नहीं मिल पाई ?

जवाब : आजादी की लड़ाई के दौरान मैकाले की शिक्षा प्रणाली को खत्म करके देश की जनता की जरूरतों के अनुरूप एक नई शिक्षा प्रणाली खड़ी करने का सपना देखा गया था। महात्मा गांधी के नेतृत्व में नई तालीम की एक क्रांतिकारी कल्पना भी पेश की गई थी। लेकिन आजाद भारत के शासक वर्ग को यह मंजूर नहीं था और उसने मैकाले की शिक्षा प्रणाली को न केवल जारी रखा वरन् उसे अपने आर्थिक-राजनीतिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए और मजबूत किया। इस बात को समझने के लिए भारत में साठ साल के इतिहास को तीन हिस्सों में बांटना पड़ेगा।

- पहला काल : (1947-1968) राज्य-समर्थित पूंजीवाद का निश्चिन्त चरण जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र निजी क्षेत्र पर हावी था।
- दूसरा काल : (1968-1991) राज्य-समर्थित पूंजीवाद का संकटकालीन चरण जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र का संतुलन बदल रहा था।
- तीसरा काल : (1991-2008) राज्य-समर्थित पूंजीवाद का नव-उदारवादी चरण जिसमें निजी क्षेत्र वैश्विक बाजार के जरिए सार्वजनिक क्षेत्र पर हावी है।

पहले काल के दौरान बुर्जुआ शासक वर्ग अर्थव्यवस्था पर अपने नियंत्रण को लेकर पूरी तरह निश्चिन्त था और इसलिए आम जनता की आकांक्षाओं को अनदेखा करते हुए सारा फोकस उच्च शिक्षा पर रहा, थोड़ा बहुत माध्यमिक शिक्षा पर भी। और पूर्व प्राथमिक स्तर से लेकर आठवीं कक्षा तक की प्रारंभिक शिक्षा को पूरी तौर पर नजरअंदाज किया गया। उच्च शिक्षा में भी मैकाले के सिद्धांत के अनुसार ऐसी शिक्षा ही दी गई जो उस दौर के सरकारी पूंजीवाद के तहत हो रहे सीमित औद्योगीकरण और नौकरशाही के लिए उपयोगी लोग तैयार करे, न कि गरीबी, गैर-बराबरी और पिछड़ेपन जैसी समस्याओं से मुक्ति पाने के लिए या एक सच्चा लोकतंत्र खड़ा करने के लिए। इसके चलते संविधान में सन् 1960 तक 14 वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों को मुफ्त शिक्षा देने का निर्देशित लक्ष्य हाशिए पर चला गया। जब बुनियाद इतनी कमजोर होगी तो क्या इमारत हवा में लटकेगी ? शासक वर्ग की नींद तब टूटी जब साठ के दशक की शुरुआत से ही अनाज का भारी संकट पड़ा और बड़ी तादाद में इसका आयात करना पड़ा। विदेशी मुद्रा के लाले पड़ गए। तब 1964 में कोठारी शिक्षा आयोग का गठन हुआ और उसको इस संकट से जूझने के लिए कैसी शिक्षा व्यवस्था हो, इस प्रश्न पर विचार करने को कहा गया।

कोठारी आयोग की रपट सन् 1966 में आई और इसके नाम पर सन् 1968 की पहली शिक्षा नीति बनी। मुख्यतः आयोग ने तीन प्रकार की अनुशंसाएं की थीं।

पहली, सभी बच्चों को समतामूलक गुणवत्ता की शिक्षा देने के लिए सार्वजनिक धन पर चलने वाली पड़ोसी स्कूल की कल्पना पर आधारित समान स्कूल प्रणाली का निर्माण। दूसरी, स्कूली और उच्च शिक्षा की पाठ्यचर्या में एक लोकतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष, समतामूलक एवं प्रबुद्ध समाज के निर्माण हेतु नागरिकता तैयार करने पर जोर। आयोग के विचार में इसके लिए पाठ्यचर्या का रिश्ता वैज्ञानिक सोच, उत्पादक काम, शोध और ज्ञान सृजन से जोड़ना जरूरी होगा। तीसरी, शिक्षा पर किए जाने वाले खर्च को इस प्रकार बढ़ाया जाए कि वह सन् 1986 तक सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 6 फीसदी हो जाए और फिर इसे इस स्तर पर बरकरार रखा जाए।

यहां से शुरू होता है दूसरा काल। अगले बीस वर्षों में आयोग की सिफारिशों के अनुसार कुछ प्रयास जरूर हुए खासकर 10+2+3 का ढांचा खड़ा करने के। लेकिन समान स्कूल प्रणाली और पड़ोसी स्कूल के प्रस्ताव को पूरी तरह खारिज कर दिया गया। इसी प्रकार शिक्षा पर खर्च बहुत धीमी गति से बढ़ा और सन् 1986 में यह सकल राष्ट्रीय उत्पाद के महज 3.5 फीसदी तक ही पहुंच पाया था। शोध और ज्ञान सृजन के नाम पर उच्च शिक्षा में केवल कुछ चुने हुए विश्वविद्यालयों में सुविधाओं को केंद्रित किया गया, जबकि अधिकांश की उपेक्षा हुई। पाठ्यचर्या में वैज्ञानिक सोच और उत्पादक काम को जोड़ने की बात तो मखौल बन गई।

अस्सी के दशक की शुरुआत में देश की शिक्षा एक बार फिर संकट से घिर गई चूंकि भारतीय अर्थव्यवस्था के सामने दुनिया की दो नई चुनौतियां थीं। एक चुनौती थी विश्व स्तर पर पूंजीवाद के नए संकट की- यह संकट बढ़ते क्रम में सिकुड़ते बाजार और सीमित होते प्राकृतिक संसाधनों का था। इसके कारण दुनिया की बड़ी पूंजीवादी ताकतें अन्य देशों के बाजार व संसाधनों पर नियंत्रण करने की रणनीति अपना रही थी जिसका असर लातीनी अमेरीका और अफ्रीकी मुल्कों पर दिख रहा था। दूसरी चुनौती सूचना प्रोद्यौगिकी की उभरती हुई तकनीक की थी। इन दोनों चुनौतियों ने भारत सरकार को नई शिक्षा नीति बनाने के लिए मजबूर किया। यह आसान काम नहीं था। एक ओर तब तक हावी सरकार द्वारा समर्थित पूंजीवाद की जरूरतों का दबाव था और दूसरी ओर दुनिया के स्तर पर पूंजीवाद पर वित्तीय पूंजी की बढ़ती हुई पकड़ का। इन विरोधाभासी दबावों का सामना करने लिए सन् 1986 की शिक्षा नीति बनी जो न तो इस चुनौती पर खरी उतरी और न ही देश की जरूरतों की कसौटी पर। इसके चलते शिक्षा में विषमताएं बढ़ीं। पहली बार स्कूली शिक्षा की जगह गरीब बच्चों (कुल बच्चों के दो-तिहाई) के लिए घटिया औपचारिकेतर शिक्षा (एनएफई) और मट्ठीभर बच्चों के लिए अभिजात नवोदय विद्यालय की समानांतर परतें बिछाने की नीति का जन्म इसी दौर में हुआ। अभिजात तबके को संतुष्ट करने के लिए कुछ कदम जरूर उठाए गए लेकिन कुल-मिलाकर नीति दिशाहीनता से ग्रस्त रही। आने वाले नवउदारवादी दौर के पूर्वाभास के चलते साक्षरता मिशन, स्वायत्त कॉलेज, स्कूली शिक्षा में विदेशी घुसपैठ और विश्व बैंक के साथ वार्ता जैसे कदम उठाए गए। गाहे-ब-गाहे संविधान और संसद की नीति निर्माण में भूमिका बनी रही।

तीसरे काल की शुरुआत सन् 1991 से होती है जब भारत सरकार ने देश की अर्थव्यवस्था के दरवाजे वैश्विक पूंजी और मुक्त बाजार के लिए बेरोकटोक खोल दिए। यह भारत को दुनिया की वैश्वीकृत अर्थव्यवस्था से जोड़ने वाले वैश्वीकरण की नीति थी। शिक्षा समेत विकास के हर पहलू पर अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक की नीतियां हावी होने लगीं। इसके दो उल्लेखनीय पहलू हैं। एक को हम संरचनात्मक समायोजन के नाम से जानते हैं जिसके तहत भारत सरकार को शिक्षा, स्वास्थ्य और जन-कल्याण के तमाम क्षेत्रों में खर्च कम करने के लिए मजबूर होना पड़ा। दूसरा पहलू है ज्ञान के चरित्र से जुड़ा हुआ- शिक्षा जिस ज्ञान को आगे बढ़ाएगी वह ज्ञान आम जनता की जरूरतों के लिए होगा या वैश्विक पूंजी और मुक्त बाजार की जरूरतों के लिए ? इन दोनों जरूरतों में बुनियादी टकराव है, खासकर इसलिए चूंकि वैश्विक पूंजी को उसके संकट से उबारने के लिए जिस मुक्त बाजारवाद के सिद्धांत को लागू किया गया वह ज्ञान पर पूरा नियंत्रण किए बगैर आगे बढ़ ही नहीं सकता था। उसके लिए यह भी जरूरी था कि नर्सरी/केजी से लेकर इंजीनियरिंग-मेडिकल शिक्षा तक जो कुछ पढ़ाया जाए वह उपभोगवादी मुक्त बाजार की गुलामी करने वाला जनमानस तैयार करे। इसके अलावा केवल उतने ही लोगों को ऊंची गुणवत्ता की शिक्षा मिले जितनों की जरूरत वैश्विक पूंजी को अपने कारोबार के लिए है। शेष लोगों को या तो महज साक्षरता तक ही सीमित कर दिया जाएगा या फिर उन्हें ऐसे कौशल दिए जाएंगे जिनसे वे नए

बाजार के लिए आवश्यक निम्न-स्तरीय काम कर सकें। एक ओर महंगी फीस वाले अभिजात संस्कृति के स्कूल खुलने की रफ्तार तेज हुई तो दूसरी ओर स्कूली शिक्षा से सरकार द्वारा अपना पल्ला झाड़ने की नीति के चलते बहु-परती शिक्षा व्यवस्था उभरकर आई यानी हर तबके को उसके सामाजिक दर्जे और आर्थिक हैसियत के अनुसार शिक्षा मिलेगी। इस दौर में पाठ्यचर्या में धार्मिक कट्टरवाद और साम्प्रदायिकता को भी बढ़ावा मिला। ऐसा क्यों हुआ, यह समझना जरूरी है। नवउदारवादी नीतियों ने शिक्षा के निजीकरण का अपना मकसद पूरा करने के लिए डीपीईपी और सर्व शिक्षा अभियान जैसे काम किए जिनसे सरकारी स्कूल की विश्वसनीयता में तेजी से गिरावट आई। पिछले बीस वर्षों में समाज को इस विषमतामूलक शिक्षा के द्वारा विभाजित करने का एजेण्डा भारत पर निर्दयतापूर्वक थोपा गया है। इसकी निर्णय प्रक्रिया में संसद हाशिए पर चली गई है, संविधान को ताक पर रख दिया गया है। अब भारत की शिक्षा नीति आईएमएफ-विश्व बैंक के मुख्यालयों में गढ़ी जा रही है, न कि हमारे संसद भवन में। इस इतिहास के मद्देनजर हम कैसे अपेक्षा करें कि देश की शिक्षा आम जनता की आकांक्षाओं को पूरा करेगी?

सवाल : क्या सर्व शिक्षा अभियान के जरिए सबको शिक्षा नहीं मिलेगी ?

जवाब : हालांकि सर्व शिक्षा अभियान का प्रारूप सन् 2000 में तैयार हुआ और इसकी औपचारिक शुरुआत दसवीं पंचवर्षीय योजना में सन् 2002 से हुई, इसके बीज 1986 की शिक्षा नीति में बोए जा चुके थे। सन् 1991 में जब वैश्वीकरण के तहत शिक्षा के खर्च में कटौती की शुरुआत हुई तो 1986 की नीति की कमजोरियों और विरोधाभासों ने वह जमीन दी जिस पर विश्व बैंक द्वारा समर्थित डीपीईपी (1993-2002) खड़ा किया गया। डीपीईपी ने क्या किया ? इसने स्कूली शिक्षा को छह प्रमुख प्रकार से विकृत किया-

इस विधेयक की जड़ें संविधान में नहीं हैं वरन् नवउदारवादी पूंजी और 'मुक्त' बाजारवाद में हैं। इसे मौलिक अधिकार के परिप्रेक्ष्य में तैयार करने की बजाए शिक्षा के बेलगाम बाजारीकरण की नीति के साथ समझौते करते हुए खैरात के रूप में लिखा गया है। इसे मौलिक अधिकार के खाके में डालने के लिए भारी संशोधनों की जरूरत पड़ेगी।

- स्कूल के समानांतर घटिया गुणवत्ता की विभिन्न शैक्षिक धाराओं का शुरू होना जैसे वैकल्पिक स्कूल, शिक्षा गारंटी केंद्र, ब्रिज कोर्स आदि का।
- नियमित शिक्षक की जगह अर्हता-विहीन, प्रशिक्षण-विहीन एवं न्यून वेतन पर अल्पकाल के लिए ठेके पर नियुक्त पैराटीचर ने ली।
- संसद द्वारा पारित 1986 की शिक्षा नीति में स्वीकृत मापदण्डों का शिथिलीकरण किया गया जैसे प्रत्येक प्राथमिक व मिडिल स्कूल में कम-से-कम तीन शिक्षक-तीन कमरे की जगह दो शिक्षक-दो कमरे, एक शिक्षक द्वारा एक ही कमरे में पांच कक्षाओं का अध्यापन (बहुकक्षायी अध्यापन) और शिक्षा के समग्र उद्देश्यों की जगह साक्षरता ने ली।
- राज्य सरकारों के शिक्षा विभागों की भूमिका घटाने के लिए उनके समानांतर रजिस्टर्ड सोसायटियों का गठन हुआ जिनके जरिए डीपीईपी के केंद्रीय अनुदान को खर्च करने और प्रबंधन करने की शुरुआत हुई।
- विकेंद्रीकरण के नाम पर पंचायत एवं पालक-शिक्षक संघों को स्कूली शिक्षा में खास भूमिका देने का नाटक किया गया जबकि पूरी निर्णय प्रक्रिया व संसाधनों पर न केवल सरकार का वरन् अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों का भी नियंत्रण बढ़ता जा रहा था।
- सरकार की जवाबदेही कम करने के लिए नाना प्रकार की अनुभवहीन एनजीओ को शिक्षा में घुसपैठ का मौका और उनके द्वारा प्रस्तावित तदर्थ स्कीमों के लिए जगह बनी।

सन् 2000 में उपरोक्त कमजोरियों और खामियों का पैकेज बनाकर और उस पर नया लेबल लगाकर सर्व शिक्षा अभियान तैयार हुआ। इसकी बुनियाद बहु-परती शिक्षा है और परोक्ष एजेण्डा सरकारी स्कूल व्यवस्था की गुणवत्ता में गिरावट लाना है। यह मकसद अब लगभग पूरा हो चुका है। आज सरकारी स्कूल की विश्वसनीयता इस स्तर तक गिर चुकी है कि गरीब व्यक्ति भी अपने बच्चों को सरकारी स्कूल में पढ़ाने को तैयार नहीं है, मजबूरी में चाहे उसे पढ़ाना पड़े। नेशनल सैम्पल सर्वे के आंकड़े दिखाते हैं कि निम्न आय वाले परिवार अपना पेट काटकर भी

बच्चों को महंगी फीस वाले निजी स्कूलों में भेज रहे हैं। यानी एक ओर जनता में शिक्षा की आकांक्षा बढ़ती जा रही है और दूसरी ओर सरकार की शिक्षा देने की इच्छा शक्ति घटती जा रही है। इस विडम्बना का ही परिणाम है कि नब्बे के दशक से निजी स्कूलों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई है। इसका मतलब है कि आईएमएफ-विश्व बैंक, डीपीईपी और सर्व शिक्षा अभियान के जरिए स्कूली शिक्षा के निजीकरण और बाजारीकरण के अपने उद्देश्य में सफल हो चुके हैं। इसका यह भी मतलब है कि अब भारतीय संविधान द्वारा पूर्व प्राथमिक से आठवीं कक्षा तक मुफ्त व अनिवार्य शिक्षा देने का संकल्प नीति निर्माण की बुनियाद में नहीं है।

उपरोक्त हालात के संदर्भ में दो मुद्दे उठाना जरूरी है। पहला, क्या आठवीं कक्षा तक की शिक्षा गरीब बच्चों के लिए कोई प्रासंगिकता रखती है ? इस स्तर तक पढ़ने के बाद उनके लिए क्या रोजगार के कोई नए दरवाजे खुलते हैं ? यदि नहीं तो वे अपने मां-बाप की तरह ही न्यूनतम मजदूरी से भी कम दिहाड़ी पर जीवनभर मजदूरी करने के लिए अभिशप्त हैं। तो फिर शिक्षा को पांचवीं या आठवीं कक्षा तक सीमित करने वाले डीपीईपी और सर्व शिक्षा अभियान उनको स्कूल आने के लिए कैसे प्रेरित कर सकते हैं ? नीति निर्माता शिक्षा के इस अधूरेपन को चाहे न मानते हों लेकिन देश की मेहनतकश जनता जानती है कि बारहवीं तक की माध्यमिक शिक्षा और उसके जरिए उच्च शिक्षा या रोजगारपरक कोर्सों के उपलब्ध हुए बगैर शिक्षा की बात बेमानी है।

दूसरा मुद्दा शिक्षा के चरित्र और दिशा से जुड़ा हुआ है। संघर्षशील दलित-आदिवासी संगठनों की एक साल पहले हरदा में हुई एक बैठक में उन्होंने कहा कि हम अपने बच्चों के लिए आज की स्कूली शिक्षा नहीं चाहते चूंकि यह शिक्षा हमारे बच्चों को हमारा ही शोषण करने वाले सरकारी तंत्र का गुलाम और ठेकेदारों का एजेण्ट बनाती है और फिर वे हमारी लड़ाई को तोड़ने वाले बन जाते हैं। सुविधाभोगी वर्गों के लिए यह सवाल शायद कोई महत्त्व नहीं रखता चूंकि उन्होंने अपने भविष्य को वैश्विक पूंजी और मुक्त बाजार से जोड़ लिया है यानी अपने को ऊंची आमदनी पर गुलामी करने के लिए तैयार कर लिया है। लेकिन देश की वह तीन-चौथाई जनता जो 20 रुपये प्रतिदिन पर गुजर-बसर करती है (अर्जुन सेन गुप्ता आयोग रपट, 2007), उसके लिए इस नवउदारवादी शिक्षा का सवाल बुनियादी महत्त्व का है चूंकि यह देश के संसाधनों के वितरण में निहित गैर-बराबरी और विकास नीतियों के जन-विरोधी चरित्र से जुड़ा हुआ है।

उपरोक्त दोनों मुद्दों पर सर्व शिक्षा अभियान की चुप्पी सरकार की मंशा पर नए सवाल खड़े करती है।

सवाल : क्या राज्य सभा में पेश किए गए 'बच्चों के लिए मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा अधिकार विधेयक 2008' के पारित होने पर सब बच्चों को उम्दा गुणवत्ता की शिक्षा मिलने की उम्मीदें बढ़ जाएंगी ?

जवाब : कतई नहीं। ठीक उल्टा ही होगा। यह इसलिए चूंकि इस विधेयक की जड़ें संविधान में नहीं हैं वरन् नवउदारवादी पूंजी और 'मुक्त' बाजारवाद में हैं। इसे मौलिक अधिकार के परिप्रेक्ष्य में तैयार करने की बजाए शिक्षा के बेलगाम बाजारीकरण की नीति के साथ समझौते करते हुए खैरात के रूप में लिखा गया है। इसे मौलिक अधिकार के खाके में डालने के लिए भारी संशोधनों की जरूरत पड़ेगी। दरअसल, यह 86वें संविधान संशोधन (2002) के अनुच्छेद 21 (क) के तहत है जो स्वंय संविधान में नवउदारवाद की घुसपैठ का परिणाम है। याद रहे कि सुप्रीम कोर्ट ने सन् 1993 में उन्नीकृष्णन फैसला दिया था जिसके चलते अनुच्छेद 45 के तहत 14 वर्ष की आयु तक (6 वर्ष से कम आयु के बच्चों समेत) के बच्चों को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा का मौलिक अधिकार मिल गया था। तो फिर 86वें संविधान संशोधन की जरूरत क्यों पड़ी ? इसकी जरूरत इसलिए पड़ी चूंकि भारत का शासक वर्ग उन्नीकृष्णन फैसले को पचा नहीं सका और उसने एक ऐसा संशोधन संविधान में करवाया ताकि सुप्रीम कोर्ट के द्वारा जो मौलिक अधिकार दिया गया था, उसे छीन लिया जाए।

86वें संविधान संशोधन के अनुच्छेद 21 (क) ने दो प्रकार से शिक्षा का मौलिक अधिकार छीना। पहला, 6 वर्ष से कम आयु के 17 करोड़ बच्चों को संतुलित पोषण, स्वास्थ्य और पूर्वप्राथमिक शिक्षा की जो गारंटी मिल चुकी थी, वह छीन ली गई। दूसरा, अनुच्छेद 21 (क) के अनुसार 6-14 आयु के बच्चों को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा 'उस रीति से दी जाएगी जो राज्य कानूनन निर्धारित करेगा' यानी मौलिक अधिकार का रूप क्या होगा यह तय

करने का अधिकार सरकार को मिल गया। अन्य किसी भी मौलिक अधिकार में सरकार को यह अधिकार नहीं है। मकसद यह था कि डीपीईपी और सर्व शिक्षा अभियान के दौरान शिक्षा में जो विकृतियां की गईं थीं उन्हें सरकार कानून बनाकर वैधानीकृत कर देगी ताकि उस पर कोई सवाल न उठा सके। अन्यथा हम अदालत में जाकर यह कह सकते थे कि घटिया गुणवत्ता की बहु-परती शिक्षा संविधान की समानता और समान अवसरों के सिद्धांत का उल्लंघन करती है और इसलिए इसकी जगह समान स्कूल प्रणाली लाई जाए। 86वें संविधान संशोधन ने मौलिक अधिकार की लड़ाई के ये सब दरवाजे बंद कर दिए। यदि संसद ने इस विधेयक को इसी रूप में पारित कर दिया तो ये बंद दरवाजे सील हो जाएंगे।

यदि राज्यसभा में पेश विधेयक इसी रूप में पारित हो गया तो इसके निम्नांकित परणिाम होंगे -

- आज की भेदभावपूर्ण बहु-परती शिक्षा बरकरार रहेगी।
- अधिकांश बच्चों को घटिया और उबाऊ शिक्षा मिलती रहेगी जिसके चलते आधे से अधिक बच्चे उसी तरह आठवीं कक्षा तक बिना पहुंचे स्कूल छोड़ते रहेंगे जैसा आज तक हुआ है।
- विधेयक में दिए गए मानदंड़ एवं स्तर के मद्देनजर और न्यूपा द्वारा जारी किए गए आंकड़ों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इनको आज के लचर हालात बरकरार रखने या उन्हें और नीचे गिराने के इरादे से तय किया गया है। इसके तीन उदाहरण पेश किए जा रहे हैं।

(क) कम-से-कम 37 फीसदी प्राथमिक स्कूल महज दो शिक्षक-दो कमरे वाले बने रहेंगे और इस कारण इनमें एक शिक्षक द्वारा एक ही कमरे में एक से अधिक कक्षाएं पढ़ाने की परिपाटी जारी रहेगी। ठीक यही 17 फीसदी और प्राथमिक स्कूलों में भी होगा जिनमें तीन शिक्षक-तीन कमरे मिल पाएंगे। चार शिक्षक-चार कमरे वाले प्राथमिक स्कूल लगभग 12 फीसदी रहेंगे। यानी लगभग दो-तिहाई प्राथमिक स्कूलों में डीपीईपी व सर्व शिक्षा अभियान वाला बहु-कक्षाई अध्यापन बरकरार रहेगा। यदि एक भी शिक्षक बीमार हो गया या उसे विधेयक के अनुसार चुनावी/जनगणना की ड्यूटी पर भेज दिया गया तो बहु-कक्षाई अध्यापन का प्रकोप और बढ़ जाएगा।

शिक्षा का मकसद बच्चों को महज साल-दर-साल अगली कक्षा में आगे बढ़ाते रहना ही नहीं है वरन् उनके अंदर निहित तमाम संभावनाओं को एक बालप्रेमी माहौल में उजागर करते हुए उन्हें उम्दा शिक्षा देना भी है। फेल न करने या बाहर न निकालने वाला यह प्रावधान तो तब मददगार होगा जब शिक्षा के इस मकसद को पूरा करने के लिए सही ढंग के स्कूल होंगे।

(ख) उपरोक्त आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि लगभग 75 फीसदी प्राथमिक स्कूलों में अलग से कोई प्रधान शिक्षक नियुक्त नहीं किया जाएगा।

(ग) विधेयक के अनुसार उच्च प्राथमिक/मिड़िल स्कूलों में विद्यार्थी शिक्षक अनुपात 1:35 का रहेगा। लेकिन अधिकांश उच्च प्राथमिक/मिडिल स्कूलों में यह अनुपात अभी से इससे बेहतर है (औसत अनुपात 1:34 से 1:29 तक)। क्या विधेयक के बाद ऐसे स्कूलों से शिक्षक स्थानांतरित किए जाएंगे ताकि उनका अनुपात गिरकर निर्देशित मानदंड पर आ जाए ?

खोज-बीन करने पर ऐसे कई और उदाहरण दिए जा सकते हैं चूंकि विधेयक में दिए गए मानदंड एवं स्तर काफी निम्नस्तरीय हैं।

- नियमित शिक्षक का कैडर खत्म कर दिया जाएगा और उसकी जगह अर्हता-विहीन, प्रशिक्षण-विहीन व न्यून वेतन पर ठेके प्रथा में नियुक्त पैराटीचर ले लेंगे।
- शिक्षकों के कैडर का विभाजन कर दिया जाएगा चूंकि अलग-अलग राज्य सरकारों को वेतन और अन्य सेवा शर्तें अपनी-अपनी सहूलियत के अनुसार तय करने की खुली छूट मिल जाएगी।
- सरकारी स्कूल के शिक्षकों को आगे भी जनगणना, चुनाव और हादसों में राहत पहुंचाने के काम में लगाया

जाता रहेगा। इसके चलते जब सरकारी स्कूलों के बच्चों की पढ़ाई बंद रहेगी तब निजी स्कूलों के बच्चों की पढ़ाई चालू रहेगी। वर्तमान का यह भेदभाव पूरी तौरपर वैधानीकृत हो जाएगा।

- जिन राज्यों में वर्तमान में निजी स्कूलों पर निगरानी एवं नियंत्रण रखने के कानून बने हुए हैं उनको रद्द करने या शिथिल करने का भारी दबाव निजी स्कूल लॉबी द्वारा राज्य सरकारों पर बनेगा। इसका एक परिणाम यह भी होगा कि निजी स्कूलों को मनमानी फीस लेने की पूरी छूट मिल जाएगी।

- विधेयक में एक शगूफा निजी स्कूलों में गरीब बच्चों के लिए 25 फीसदी सीटों पर मुफ्त शिक्षा का रखा गया है। इस पर तीन बातें कहनी हैं। पहली, यहां मुफ्त शिक्षा का मतलब निजी स्कूलों की पूरी ट्यूशन फीस की माफी नहीं है चूंकि इन स्कूलों को सरकार केवल उतना पैसा देगी जो वह सरकारी स्कूल में औसतन एक बच्चे पर खर्च करती है। जिन स्कूलों में ट्यूशन फीस सरकार द्वारा दी गई राशि से अधिक होगी वहां इन गरीब बच्चों का क्या होगा, इस सवाल का जवाब विधेयक नहीं देता। दूसरी, निजी स्कूलों में ट्यूशन फीस के अलावा कई बहानों से और ढेर सारे शुल्क लिए जाते हैं एवं पोशाक, बूट आदि का भी अतिरिक्त खर्च है। इस बोझ को गरीब बच्चे कैसे उठाएंगे ? तीसरी, मुफ्त शिक्षा का अधिकार आठवीं कक्षा में खत्म हो जाएगा। उसके बाद ये बच्चे एक बार फिर सड़कों पर आ जाएंगे चूंकि वे वहां हाईस्कूल की शिक्षा जारी नहीं रख पाएंगे। वैसे भी यह पूछना जरूरी है कि क्या 25 फीसदी आरक्षण का यह प्रावधान 6-14 आयु समूह के 19 करोड़ बच्चों की शिक्षा की समस्या का कोई कारगर समाधान है ? आज लगभग 4 करोड़ बच्चे मान्यता प्राप्त निजी स्कूलों में हैं। इस प्रावधान से 25 फीसदी यानी 1 करोड़ बच्चों का समाधान हुआ, ऐसा मान लें। तो फिर शेष 18 करोड़ बच्चों को क्या घटिया शिक्षा मिलती रहेगी ?

- वैसे तो विधेयक के पैरोकार दावा करते हैं कि इसके बाद निजी स्कूलों में केपिटेशन फीस और बच्चों या उनके अभिभावकों की भर्ती के पूर्व होने वाली स्क्रीनिंग (छंटाई) पर प्रतिबंध लग जाएगा। इसके खिलाफ विधेयक में दंड के भी प्रावधान हैं लेकिन यह तो उस केपिटेशन फीस पर रोक लगेगी जो रसीद देकर ली जाती है। ज्यादातर केपिटेशन फीस तो छिपकर ली जाती है जिसकी कोई रसीद नहीं दी जाती। इस पर कैसे रोक लगेगी ? वैसे भी विधेयक में फीस पर नियंत्रण लगाने का कोई प्रावधान नहीं है यानी फीस मनमाने ढंग से बढ़ाकर काफी हद तक केपिटेशन फीस की भरपाई भी होती रहेगी। जहां तक भर्ती के पहले स्क्रीनिंग का सवाल है वहां जरूर प्रावधान में कुछ दम दिखता है। लेकिन यहां भी दिल्ली हाईकोर्ट के हाल के आदेश से सबक लेना चाहिए जिसने नर्सरी/केजी में स्क्रीनिंग पर रोक लगा दी और भर्ती के कुछ मापदण्ड बनवा दिए। ये मापदण्ड ऐसे थे जिन्होंने निजी स्कूलों के मालिकों को हेर-फेर करने की काफी छूट दे दी। बेशक, दिल्ली में खुलकर चलने वाली स्क्रीनिंग बंद होने का दावा चाहे सरकार कर ले लेकिन अन्य तरीकों से बच्चों की छंटाई और पक्षपात जारी है। इस मर्ज का भी विधेयक के पास तब तक कोई इलाज नहीं होगा जब तक देश के सभी बच्चों के लिए उम्दा गुणवत्ता के स्कूल उपलब्ध नहीं हो जाएंगे और हर स्कूल अमेरीका और यूरोप के कुछ देशों की तर्ज पर पड़ोसी स्कूल घोषित नहीं हो जाएगा। विधेयक इस मूल समस्या का कोई समाधान नहीं देता।

- दुनियाभर में माना गया है कि पूर्व-प्राथमिक शिक्षा (नर्सरी/केजी) बच्चों के बौद्धिक, भावात्मक एवं कौशलों के विकास के लिए अति महत्त्वपूर्ण है। चूंकि यह सुविधा सरकारी व्यवस्था में लगभग नदारद है, इसलिए इसका बड़ा कारोबार निजी क्षेत्र में खुल गया है जहां हजारों रुपए की सालाना फीस ली जाती है। जाहिर है कि देश के अधिकांश बच्चे पूर्व-प्राथमिक शिक्षा से वंचित रहते हैं। तो क्या यह विधेयक इस विषय में कोई ठोस बात कहता है ? यह मामला गोलमोल भाषा में राज्य सरकारों की 'सद्इच्छा' पर छोड़कर विधेयक ने पल्ला झाड़ लिया है। विधेयक में दिए गए मानदंड एवं स्तर में भी पूर्व-प्राथमिक शिक्षा को शामिल नहीं किया गया है यानी इसकी कोई अनिवार्यता नहीं है।

- एक और दावा है कि आठवीं कक्षा पहुंचने तक न तो किसी बच्चे को फेल किया जाएगा और न ही बाहर निकाला जाएगा। इस प्रावधान के बहुत गुणगान हो रहे हैं। लेकिन शिक्षा का मकसद बच्चों को महज

साल-दर-साल अगली कक्षा में आगे बढ़ाते रहना ही नहीं है वरन् उनके अंदर निहित तमाम संभावनाओं को एक बालप्रेमी माहौल में उजागर करते हुए उन्हें उम्दा शिक्षा देना भी है। फेल न करने या बाहर न निकालने वाला यह प्रावधान तो तब मददगार होगा जब शिक्षा के इस मकसद को पूरा करने के लिए सही ढंग के स्कूल होंगे। बहु-परती पैराटीचर वाले स्कूल जहां बहु-कक्षायी अध्यापन होता हो वह स्कूल व्यवस्था इस मकसद को कैसे पूरा करेगी ?

- विधेयक में कोई वित्तीय ज्ञापन संलग्न नहीं है। इसका हैरत में डालने वाला कारण दिया गया है कि विधेयक को क्रियान्वित करने के लिए होने वाले खर्च का अनुमान लगाना अभी मुमकिन नहीं है। जो सरकार विगत साढ़े तीन सालों में इसके खर्च का अनुमान तक नहीं लगा सकी, वह क्या इसके क्रियान्वयन के प्रति गंभीर हो सकती है ? लेकिन सच्चाई कुछ और है। इसका वित्तीय ज्ञापन फरवरी 2008 में तैयार हो गया था और इसे योजना आयोग की स्वीकृति मिल चुकी थी। इसे मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने अपनी मोहर लगाकर मंत्रीमंडल सचिवालय को भेज भी दिया था। तो अब इसको छिपा क्यों दिया ? एक ही कारण समझ में आता है। उस अनुमान में कई ऐसे खर्चों का ब्यौरा है (जैसे शिक्षकों के पैराटीचर वाले वेतन) जिनके सार्वजनिक होने से इस विधेयक की पोल खुल जाती।
- संविधान के अनुसार मौलिक अधिकार वह अधिकार है जिसका हनन होने पर नागरिक अदालत जाकर सरकार के खिलाफ याचिका दायर कर सके और न्याय हासिल कर सके। विडम्बना है कि मौलिक अधिकार के नाम पर बने इस विधेयक के अनुसार जहां निजी स्कूलों की बात आती है वहां नागरिक को अदालत में जाने से पहले अधिकृत सरकारी अफसर से अनुमति लेनी पड़ेगी। यानी सरकार ताकतवर निजी स्कूलों को संरक्षण देती रहेगी। शेष अधिकारों के लिए भी विधेयक कहता है कि यदि किसी प्राधिकार या अफसर के द्वारा किसी प्रावधान का उल्लंघन 'सद्इच्छा' या 'अच्छी मंशा' के बावजूद हो गया हो तो उसके खिलाफ कोई मुकदमा दायर नहीं किया जा सकेगा। यह सब मौलिक अधिकार की परिभाषा पर फूहड़ मजाक के अलावा और क्या है ?

संविधान के अनुसार मौलिक अधिकार वह अधिकार है जिसका हनन होने पर नागरिक अदालत जाकर सरकार के खिलाफ याचिका दायर कर सके और न्याय हासिल कर सके। विडम्बना है कि मौलिक अधिकार के नाम पर बने इस विधेयक के अनुसार जहां निजी स्कूलों की बात आती है वहां नागरिक को अदालत में जाने से पहले अधिकृत सरकारी अफसर से अनुमति लेनी पड़ेगी।

आजादी के बाद साठ साल तक इंतजार करवाकर शिक्षा का मौलिक अधिकार देने का ढोल पीटने वाली सरकार और उसके समर्थक गैर-सरकारी पैरोकारों, कॉरपोरेट घरानों व बाजारवाद के पिछलग्गू मीडिया एवं अंतर्राष्ट्रीय वित्तपोषित एजेंसियों के सामने इस विधेयक को लेकर और बहुतेरे सवाल रखे जा सकते हैं लेकिन आम जनता में बहस की शुरुआत करने के लिए अभी इतना काफी है।

सवाल : विगत 20 वर्षों में स्कूली और उच्च शिक्षा का तेजी से निजीकरण और बाजारीकरण हुआ है। क्या यह सही दिशा नहीं है ?

जवाब : दुनिया के सबसे ताकतवर और विकसित आठ मुल्कों (अमेरीका, ब्रिटेन, कनाड़ा, जापान, फ्रांस, जर्मनी, रूस व इटली), जिन्हें जी-8 कहा जाता है, में से ब्रिटेन को छोड़कर अन्य सभी में सरकारी धन पर चलने वाली उम्दा गुणवत्ता की मजबूत सार्वजनिक स्कूल प्रणाली है। ब्रिटेन में भी पिछले 40 सालों में जनदबाव में अभिजात तबकों के लिए चलने वाले तथाकथित निजी 'पब्लिक' स्कूलों की तुलना में सार्वजनिक स्कूल प्रणाली मजबूत हुई है। अमेरीका में तो डेढ़ सौ सालों से सार्वजनिक स्कूल प्रणाली है जहां अमीर-गरीब और विभिन्न नस्लों, मजहबों व भाषाओं की पृष्ठभूमि के बच्चे एक साथ पढ़ते हैं, निजी स्कूल तो नाम मात्र हैं। वहां हरेक स्कूल पड़ोसी स्कूल होता है यानी आपके पड़ोस में जो भी स्कूल है उसके अलावा आप अपने बच्चे को और कहीं नहीं पढ़ा सकते।

इसलिए वहां हरेक स्कूल पर उम्दा गुणवत्ता के होने का राजनीतिक दबाव है। यही कहानी अन्य जी-8 मुल्कों की भी है। तो क्या भारत इस ऐतिहासिक अनुभव का अपवाद हो सकता हो ?

सवाल : आपकी राय में क्या किया जाए ताकि देश के हरेक बच्चे, किशोर और युवा को उम्दा गुणवत्ता की शिक्षा मिले ?

जवाब : इसके लिए भारत के सामने सार्वजनिक धन पर चलने वाली और पड़ोस स्कूल पर आधारित समान स्कूल प्रणाली के अलावा कोई और विकल्प नहीं है। ऐसी प्रणाली पूर्व-प्राथमिक स्तर (नर्सरी/केजी) से लेकर 12वीं कक्षा तक हरेक स्कूल के निर्धारित पड़ोस में रहने वाले सभी बच्चों को पूरी तौर पर मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा देने के लिए संवैधानिक रूप से जवाबदेह होगी। इस प्रणाली की निम्नांकित खूबियां होंगी-

- यह समान सिद्धांतों पर पूरे देश में लागू होगी जिसमें सभी वर्गों और पृष्ठभूमियों के परिवारों को अपने बच्चों को पढ़ाना कानूनी रूप से लाजमी होगा। इसको लागू करते समय संविधान के अनुच्छेद 29 और 30 के साथ विरोधाभास को जरूर ध्यान में रखना होगा लेकिन इसके कारण समान स्कूल प्रणाली के पक्ष में व्यवस्थामूलक बदलाव के कदमों को रोकने का बहाना करना की कोई जरूरत नहीं है। इस विरोधाभास का समाधान आगे चलकर निकाला जा सकेगा।
- इसमें सरकारी व स्थानीय निकाय, निजी सहायता-प्राप्त और निजी सहायता-विहीन सभी प्रकार के स्कूल शामिल होंगे और सभी की समान रूप से संवैधानिक जवाबदेही तय होगी।
- हरेक स्कूल का पड़ोस निर्धारित करते वक्त यह सुनिश्चित करना होगा कि उसमें उस इलाके की विभिन्न पृष्ठभूमियों के बच्चे शामिल हों ताकि हरेक स्कूल में पूरी क्षेत्रीय विविधता झलके।
- इसमें हरेक स्कूल की अधोसंरचना (यानी भौतिक सुविधाओं), शिक्षकों का दर्जा (अर्हता, वेतन, सेवा शर्तें), विद्यार्थी-शिक्षक अनुपात, पाठ्य व अन्य शैक्षिक सामग्री, पुस्तकालय, प्रयोगशाला व खेल के मैदान एवं पाठ्यचर्या के मानदंड-स्तर पूरे देश में समकक्ष (एकरूपी नहीं) होंगे। इसके मायने हैं कि ये मानदंड-स्तर केंद्रीय विद्यालय से किसी हालत में कम नहीं होंगे, बेहतर चाहे हों।
- समान स्कूल प्रणाली के मायने एकरूपता कतई नहीं हो सकता। भारत जैसे विविधतापूर्ण देश में लोकतांत्रिक और न्यायशील स्कूल प्रणाली वही है जिसमें विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक और भाषाई परिस्थितियों के अनुकूल पाठ्यचर्या, पाठ्यसामग्री और शिक्षण पद्धति में सृजनात्मक नवाचार हो सके, न कि वर्तमान प्रणाली जैसी एकरूपता और जड़ता हो। केवल दो शर्तें हैं। एक, यह विविधता संविधान के खाके और राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा की मार्गदर्शिका का उल्लंघन नहीं करेगी। दो, विविधता के नाम पर न तो शैक्षिणिक स्तर के साथ कोई समझौता होगा और न ही बच्चों के साथ अन्य किसी प्रकार के भेदभाव की इजाजत होगी।
- सभी स्कूलों में भाषा शिक्षण नीति के समान सिद्धांत लागू होंगे जिसकी बुनियाद में भारतीय बच्चों की बहुभाषीयता होगी। सभी बच्चों के लिए बिना किसी भेदभाव के पूर्व-प्राथमिक स्तर से लेकर 12वीं कक्षा तक मातृ भाषा/प्रादेशिक भाषा को शिक्षण का माध्यम मानते हुए उम्दा गुणवत्ता की अंग्रेजी (गैर-हिन्दी भाषी राज्यों में हिन्दी की भी) के शिक्षण की व्यवस्था करना सरकार की जवाबदेही होगी। सन् 1986 की शिक्षा नीति में प्रस्तावित त्रि-भाषा सूत्र की भी इसी खाके में नए सिरे से व्याख्या करने की जरूरत होगी।
- उपरोक्त व्यवस्थामूलक बदलाव का तकाजा है कि शिक्षकों का निर्माण करने वाले सभी सेवापूर्व और सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आमूलचूल कायाकल्प करना होगा। आज के सर्टिफिकेट, डिप्लोमा, बी. एड़. और एम.एड़. कोर्स अभी भी, कुछेक अपवादों को छोड़कर, औपनिवेशिक एवं यथास्थितिवादी सांचे में ढले हुए हैं। इनमें ज्ञानमीमांसात्मक (ज्ञान के स्रोत व चरित्र से संबंधित) बदलाव लाने के लिए जरूरी है कि इन कोर्सों के लिए फैकल्टी तैयार करने वाले विश्वविद्यालयों के शिक्षा विभागों का भी कायाकल्प हो।

- एक राज्य/यू.टी. में स्थित सभी स्कूलों, चाहे वे सरकारी हों या निजी (सहायता-प्राप्त/सहायता-विहीन), उन सभी के लिए केवल एक ही परीक्षा बोर्ड होगा ताकि विभिन्न बोर्डों के कारण पनपने वाली विषमताओं के चलते समान अवसरों के संवैधानिक मौलिक अधिकारों का जो उल्लंघन होता है उसको खत्म करके सभी स्कूलों के बीच समकक्षता स्थापित हो सके।
- निर्णय प्रक्रिया, संसाधनों के आवंटन, नियोजन और प्रबंधन में केंद्र और राज्य सरकार के स्तर से लेकर ग्राम पंचायत एवं स्कूल की प्रबंधन समिति के स्तर तक लोकतांत्रिकरण करना समान स्कूल प्रणाली की बुनियाद होगी। इस खाके में ही विकेंद्रीकरण और उसके जरिए जनसहभागिता, खासकर अभिभावकों की, सुनिश्चित करके ही स्कूलों की सृजनात्मकता व गुणवत्ता बरकरार रखी जा सकती है।
- संसाधनों के आवंटन में यह ध्यान रखना होगा कि पिछले 40 सालों में कोठारी आयोग द्वारा अनुशंसित पूरी शिक्षा व्यवस्था (नर्सरी से उच्च व प्रोफेशनल शिक्षा तक) पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद के 6 फीसदी की दर से काफी कम खर्च किया गया है। आज भी यह खर्च सकल राष्ट्रीय उत्पाद का लगभग 3.5 फीसदी ही है। इसके मायने हैं कि अब 6 फीसदी खर्च करके काम नहीं चलने वाला चूंकि पिछले 40 सालों में साल-दर-साल हुई निवेश की कमी यानी उपेक्षा की खाई लगातार चौड़ी होती गई है जिसे पाटे बगैर अब आगे नहीं बढ़ा जा सकता। इसको अगले सात साल में पाटने की उच्च प्राथमिकता पर योजनाबद्ध कार्रवाई करनी होगी। उसके बाद ही सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 6 फीसदी खर्च बरकरार रखने की बात सार्थक होगी।
- समान स्कूल प्रणाली का केंद्रीय उद्देश्य एक लोकतांत्रिक, समाजवादी, न्यायशील, धर्मनिरपेक्ष और प्रबुद्ध भारत का निर्माण करना होगा जिसे बुनियादी कसौटी मानकर ही सारे व्यवस्थामूलक बदलाव लाने होंगे।

भारत जैसे विविधतापूर्ण देश में लोकतांत्रिक और न्यायशील स्कूल प्रणाली वही है जिसमें विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक और भाषाई परिस्थितियों के अनुकूल पाठ्यचर्या, पाठ्यसामग्री और शिक्षण पद्धति में सृजनात्मक नवाचार हो सके, न कि वर्तमान प्रणाली जैसी एकरूपता और जड़ता हो।

स्कूली शिक्षा के मायने तभी हैं जब यह भारत के हरेक बच्चे को 12वीं कक्षा के बाद उच्च शिक्षा और प्रोफेशनल शिक्षा हासिल करने के लिए समान अवसर प्रदान करे ताकि हरेक युवा को देश की अर्थव्यवस्था और संसाधनों के वितरण में समतामूलक हक मिले। इसके लिए तीन जरूरी पूर्व शर्तें हैं। पहली, उच्च माध्यमिक स्तर (12वीं कक्षा तक) की पाठ्यचर्या ऐसी हो कि उसमें निहित ज्ञान आगे के किसी भी कोर्स (बीए-बीएससी/इंजीनियरिंग/मेडिसिन/मेनेजमेंट या व्यावसायिक) की प्रवेश परीक्षा के लिए यथेष्ट हो ताकि कोचिंग की जरूरत ही खत्म हो जाए और उस पर प्रतिबंध लगाया जा सके। प्रवेश परीक्षा के चरित्र में भी बदलाव लाना जरूरी होगा। दूसरी, उच्च शिक्षा और प्रोफेशनल शिक्षा के उम्दा संस्थानों की संख्या में इतनी वृद्धि करनी होगी कि आज की मांग-आपूर्ति के बीच की खाई पट जाए। तीसरी, सरकार की उच्च शिक्षा और प्रोफेशनल शिक्षा से अपनी जवाबदेही से पल्ला झाड़ने की नवउदारवादी नीति को पलटना जन आंदोलन का जरूरी मुद्दा होगा। यदि यह नहीं किया तो उच्च शिक्षा और प्रोफेशनल शिक्षा इतनी महंगी हो जाएगी कि देश के 80 फीसदी युवा इससे वंचित हो जाएंगे। संविधान का अनुच्छेद 41 इस स्तर की शिक्षा को भी हरेक नागरिक का अधिकार मानता है। इसीलिए सरकारी धन के सहारे शिक्षा का निजीकरण व बाजारीकरण करने की सार्वजनिक-निजी साझेदारी (पीपीपी) की नीति का प्रतिरोध भी शिक्षा के अधिकार की लड़ाई का ही हिस्सा होगा।

राज्य सभा में पेश विधेयक में आमूलचूल संशोधन करवाने की लड़ाई लड़नी होगी ताकि यह उपरोक्त सिद्धांतों पर आधारित शिक्षा व्यवस्था का पुनर्निर्माण करने का सशक्त औजार बने। अन्यथा इसकी जगह एक ताजे विधेयक को नए सिरे से लिखवाने के लिए जन आंदोलन करना होगा। इसके बगैर आपके बच्चे भारत के दोयम दर्जे के नागरिक बने रहने के लिए अभिशप्त हैं! ◆